

अनामदास का पोथा : आध्यात्मिक चिंतन का जनवादी स्वरूप

डॉ० रवीन्द्रनाथ मिश्र

हजारीप्रसाद द्विवेदी पौराणिक, ऐतिहासिक सांस्कृतिक परंपरा के वाहक ही नहीं अपितु उसके शोधक भी हैं। वे इनके मूल में जाकर कहीं न कहीं से आधुनिक जीवन के लिए रस खींच ही लेते हैं। द्विवेदी जी के लेखन के मूल में, मनुष्य है। प्रेम, करुणा, दया, सेवा, परहित, तप, त्याग, शील, पर दुःख कातरता आदि जीवन मूल्य, इनकी रचनाओं में ठसाठस भरे पड़े हैं। जिनके माध्यम से वे मनुष्य को बेहतर इंसान बनाना चाहते हैं। द्विवेदी जी की खास बात यह है कि वे साधारण को भी यहां, वहां घुमा फिरा कर अन्ततोगत्वा व्यक्ति, मूल्य, समाज और देश से जोड़ देते हैं। जिसमें विचार, भाव, भाषा आदि के स्तर पर शास्त्र और लोक का अद्भुत सामंजस्य बना रहता है।

'अनामदास का पोथा' अथ रैक्व-आख्यान की मूल कथा छान्दोग्य उपनिषद की है। जिसमें मध्य और आधुनिक काल की छोंक दी गई है। ऋषियों-मुनियों की तपस्या और उनके उपदेशों से कथा के फलक को विस्तार मिला है। जिसमें प्रमुख रूप से व्यक्ति की आन्तरिक वृत्तियों के महत्व और उनके परिमार्जन के साथ-साथ जगत के मूल कारणों में पंच महाभूतों की चर्चा की गई है। इन सबके मूल में सेवाभाव और प्रजाहित को विशेष महत्व दिया गया है। एक तरफ जहाँ प्रेम और विवाह के औदात्य रूप की भीमांसा की गई है वहीं दूसरी तरफ 'दो और न कुछ भी लो, बस केवल उत्सर्ग झलकता है' का आदर्श विद्यमान है। गुरुओं और ऋषियों द्वारा संचालित परिवार और राजव्यवस्था में राजा जानश्रुति, आचार्य उदुम्भरायण, राजकुमारी जाबाला उर्फ शुभा, युवा ब्रह्मचारी रैक्व, ऋषि औषस्ति, ऋषि पत्नी ब्रह्मवादिनी ऋतम्भरा, गाडीवान की पत्नी ऋजुका, विनोदी मामा, आश्वलायन, अर्थात् आदि पात्र उदात्त चिंतन से परिपूर्ण अकालग्रस्त और पीड़ित प्रजा के लिए चिंतित ही नहीं बल्कि उनके कल्याण के लिए सतत प्रयत्नशील हैं।

उपन्यास की मूल कथा बस इतनी ही है कि मेथावी रिक्व ऋषि के मातृ-पितृ, भाई-बहन, कुल-परिवार विहीन तेजस्वी पुत्र रैक्व¹ एक रथ के नीचे बैठकर पीठ खुजलाया करते थे। वे अपने अध्यात्म ज्ञान में इतने लीन थे कि उन्हें स्त्री-पुरुष का अन्तर भी नहीं मालूम था। उनकी ख्याति एक महान ऋषि कुमार के रूप में चारों तरफ फैलने लगी। जिसे सुनकर राजा जानश्रुति बहुमूल्य उपहारों के साथ उपदेश सुनने के लिए उनके पास गए

लेकिन रैक्व ने उन्हें शुद्ध होने के नाते उपदेश देने से इनकार कर दिया। राजा पुनः कीमती उपहारों के साथ अपनी सुन्दर कन्या को साथ लेकर ऋषि कुमार के पास गए तो कन्या का मुख देखकर फक्कड़ रैक्व ने उपदेश देने को तैयार हो गए और उन्होंने अपने प्रवचन का सार रूप प्रस्तुत करते हुए कहा कि वायु ही जगत का कारण है।

उपन्यास का प्रारंभ रैक्व के आध्यात्मिक चित्तन-मनन से शुरू होता है, जहां कि वे जगत के मूल कारण स्वरूप, वायु, जल और आकाश के विषय में विचार करते हुए जंगल में भटक रहे थे। यहीं पर आंधी-तूफान से मृत गाड़ीवान और घायल अर्द्धचेतन अवस्था में पड़ी जाबाला को उन्होंने देखा। वे उसे जल पिलाकर घेतन अवस्था में लाते हैं। रैक्व को स्त्री-पुरुष का भेदभाव भी नहीं मालूम था। इसलिए वे जाबाला की सुंदरता पर मुश्य होकर उसके बाल, गाल और अधर को सहलाने लगे। दरअसल उन्हें इतना भी ज्ञात नहीं था कि वह किसी की कन्या है और उसके साथ इस प्रकार का व्यवहार करना अनुचित है। यहाँ रैक्व का चरित्र-चित्रण कुछ असहज सा लगता है फिर भी द्विवेदी जी ने इसमें लोकजीवन की भावुकता और सरलता को जोड़कर उसे एक नई ऊँचाई प्रदान की है। जाबाला कहती है “देखो ऋषि कुमार! मैं महाराज जानश्रुति की कन्या हूँ, तुम्हें इतनी तो जानकारी होनी चाहिए कि इस तरह से स्त्रियों का स्पर्श करना अनुचित है, परंतु मैं तुम्हारी सरलता पर मुश्य हूँ।” (31) रैक्व को यह भी विदित नहीं था कि वे जाबाला को किस नाम से संबोधित करें। उन्हें आर्ये भवति, शुभे आदि स्त्रीलिंग के संबोधन ज्ञात थे इसलिए जाबाला ने उन्हें ‘शुभे’ नाम से संबोधित करने को कहा। कालान्तर में वे जाबाला को अपनी पीठ पर बैठाकर घर छोड़ने की बात करते हुए उसके सामने पीठ करके खड़े हो जाते हैं। रैक्व अपने भोलेपन के कारण समझ रहे थे कि वह उनकी पीठ पर बैठ जाएगी। उस समय उनकी पीठ में एक अजीब-सी सनसनाहट होने लगी और वह जाबाला के न बैठने पर भी कालान्तर में बनी रही। दोनों एक दूसरे के परस्पर ज्ञान, प्रेम, स्वभाव, सरलता, सहजता, सुंदरता, भोलेपन आदि से इतने प्रभावित हुए कि मन ही मन एक-दूसरे से प्रेम करने लगे। जाबाला ने संवाद के दौरान रैक्व के वायु प्रसंग के संदर्भ में जनक और याज्ञवल्य के बीच हुई बातचीत का उल्लेख करते हुए ‘आत्मा’ के महत्व की बात की। इस मध्यर मिलन और दार्शनिक संवाद के पश्चात दोनों का वियोग हो जाता है। रैक्व के चित्तन के ‘शुभा’ और जाबाला के अंतःकरण में रैक्व की छवि अंकित हो जाती है। यहाँ शकुन्तला और दुष्यंत की प्रेम कहानी के साथ ‘तुलसीदास’ खण्ड काव्य का वह प्रसंग जीवंत हो उठता है-

**देखा, शारदा नील-वसना
है सम्मुख स्वयं सृष्टि-रसना,
जीवन-समीर-शुचि-निःश्वसना, वरदायी,
वाणी वह स्वयं सुवादित स्वर
फूटी तर अमृताक्षर-निर्भर,
यह विश्व हंस, हैं घरण सुघर जिस पर श्री। (87)**

जाबाला से विछोह होने के बाद रैक्व का मिलन देवी ऋतम्भरा से होता है और वे उन्हें औषस्ति ऋषि के आश्रम में ले जाती हैं। जहाँ पर मातृ-पितृ और भगिनी विहीन रैक्व को देवी ऋतम्भरा, ऋषि औषस्ति और ऋजुका से क्रमशः मां-बाप का भरपूर प्यार मिलता है। रैक्व आज्ञाकारी आदर्श पुत्र के रूप में उनके आदेशों का अनुपालन करते हैं। यहाँ समय-समय पर औषस्ति रैक्व की शंकाओं का समाधान भी करते हैं- “तुमने जैसे अपने सीमित चिंतन से यह अनुभव किया कि पिण्ड में जो प्राण है वही ब्रह्माण्ड में वायु है - दोनों वास्तव में एक ही तत्त्व हैं, उसी प्रकार सौम्य, पुराण-ऋषियों ने अनुभव किया था कि पिण्ड में जो आत्मा है वही ब्रह्माण्ड में ब्रह्म है- सदा विद्यमान अखण्ड वैतन्य स्वरूप, अनाविल आनन्द-रूप। एक शब्द में कहे तो बेटा! सच्चिदानन्द।” (58) यहाँ द्विवेदी जी शास्त्र संगत तप, स्वाध्याय, मनन, सत्संग, सदाचार, सत्य आदि बातों पर जोर देते हुए तुलसी बाबा की तरह परहित को विशेष महत्व देते हुए दूसरों के सुख के लिए अपने को निचोइने की बात करते हैं। आगे औषस्ति ऋषि कहते हैं- “एकान्त का तप बड़ा तप नहीं है बेटा। देखो, संसार में कितना कष्ट है, रोग है, शोक है, दरिद्रता है, कुसंस्कार है। लोग दुःख से व्याकुल हैं। उनमें जाना चाहिए। उनके दुःख का भागी बनकर उनका कष्ट दूर करने का प्रयत्न करो। यही वास्तविक तप है। जिसे यह सत्य प्रकट हो गया है कि सर्वत्र एक ही आत्मा विद्यमान है वह दुःख-कष्ट से जर्जर मानवता की कैसे उपेक्षा कर सकता है।” (59)

द्विवेदी जी ने प्रस्तुत चिंतन में समस्त वेद, उपनिषद, भगवद्गीता, रामायण, महाभारत, संस्कृत ग्रंथ एवं मध्यकालीन भक्त कवियों की वानियों का सार रूप प्रस्तुत किया है। यहाँ उन्होंने शास्त्र को लोक की भूमि पर उतारा है। सच्ची तपस्या मानव की सेवा है। लेकिन आज स्वकेन्द्रित स्वार्थी नर पिशाचों के कारण बिलबिलाती हुई मानवीयता, सत्ता के जोड़तोड़ में बिखरते-टूटते हुए मूल्यों, भौतिक संसाधनों के संग्रह आदि के चलते दुःखी मानव हाशिये पर आ गया है।

अपने गाड़ीवान पति की मृत्यु पर छोटे शिशु के साथ भूख-प्यास से रोती विलखती हुई ऋजुका के संबंध में महात्मा ने औदुम्बरायण से कहा- “आप केवल जानश्रुति की बेटी को ही बेटी समझें, और प्रजा की बहू-बेटियों को भी उसी प्रकार बेटी न समझें। आप राजा जानश्रुति के पुरोहित हैं। ‘प्रजा’ शब्द का अर्थ ही सन्तान है। राजा के लिए प्रजा की सारी बेटियां उसकी अपनी बेटी हैं.... अपनी चर्चा को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा कि “जिस राजा के राज्य में बच्चे और स्त्रियां भूख-प्यास से व्याकुल होती हैं उसका सत्यानाश हो जाता है-और राजा नरक का अधिकारी होता है।” (70-71) यहाँ बाबा तुलसी की “जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी।” की पंक्तियां अक्षरशः जीवंत हो उठती हैं।

महात्मा ने अंत में कहा कि- “दुखियों का दुःख दूर करना ही सच्ची आध्यात्मिक साधना है, यही तप है, यही मोक्ष है!” (72) विवेकानन्द ने भी धर्म को कर्म से जोड़कर समयानुसार धर्म की नई व्याख्या प्रस्तुत की थी। यहाँ द्विवेदी जी भी सम्पूर्ण आध्यात्मिक

साधनाओं की फलश्रुति को परदुःख निवारण से जोड़कर देखते हैं। यहाँ बाबा पुनः दस्तक देते हैं- “परहित सरिस धरम नहिं भाई, पर पीड़ा नहिं सम अथमाई।”

द्विवेदी जी की रचनाओं में लोकजीवन की चिंता सर्वत्र विद्यमान है। अपने इस चौथे उपन्यास के सर्जन के समय वे उम्र के चौथे पड़ाव पर थे। यहाँ उनके लेखन में उनकी व्यापक एवं गहन चिंतन-दृष्टि साफ दिखाई देती है। अध्यात्म की ओर उनकी उन्मुख प्रवृत्ति को उम्र का तकाजा ही मान सकते हैं लेकिन वे अपनी इस प्रवृत्ति को लोकसेवा से जोड़कर देखते हैं। औषस्ति ऋषि द्वैपायन व्यास के कथन का उल्लेख करते हुए कहते हैं- “लोक-ताप से तप्त होना सबसे बड़ा तप है, क्योंकि वह अखिलात्मा पुरुष की परमाराधना है।” (75) हिंदी उपन्यास : सार्थक पहचान नामक पुस्तक में द्विवेदी जी के संबंध में मधुरेश का कहना है- “व्यक्तिगत तपस्या और साधना के महत्व को स्वीकारते हुए भी वह सांसारिक प्रेम, वात्सल्य और सौन्दर्य के अंगुलि निर्देश की उदारता तो दिखाते ही हैं, प्रवृत्तियों को दबाने के बदले वह उनके संयत, परिष्कृत और संतुलित उपयोग पर शुरू से ही बल देते हैं, वह तपस्या को उसकी सामाजिकता में ही सार्थक मानते हैं।” (210)

ऋतभरा और औषस्ति ऋषि रैक्व और जाबाला को ब्रह्म-आत्मा एवं पंच महाभूतों का उपदेश देते हुए जीवन में नियम-संयम, संघर्ष-संकल्प, आचार-विचार आदि नीतिगत बातों की शिक्षा देते हैं। कालान्तर में शुभा और रैक्व का एक-दूसरे से साक्षात्कार और मिलन भी होता है लेकिन वे दोनों लोक-मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। जाबाला की प्रेम साक्षिणी अरु-स्थाती और रैक्व का मित्र आश्वलायन एवं रैक के धर्म माता-पिता उन दोनों के प्रेमभाव को जानते हुए भी अनजान बने रहते हैं। यहाँ लोक जीवन में प्रेम संस्कृति का एक झरना बहता हुआ प्रतीत होता है। उन्मुक्त प्रेम शारीरिक एवं अस्थायी होता है। समकालीन हिंदी उपन्यास पुस्तक में विवेकीराय की ये पंक्तियां यहाँ सटीक ढैठती है कि- “जाबाला के प्रेम-गोपन में और रैक्व के भोलेपन द्वारा प्रेम प्रकाशन में एक ही सौन्दर्य है। रैक्व में आदिम प्रेम संवेदना के स्फुरण और विकास की सार्वभौम प्रक्रिया है। भाव दशा में अपने को छिपाकर मनोवांछित को सुनने की सहज वृत्ति जैसे जाबाला में है वैसी ही रैक्व में भी है। वह बहुत भोलेपन के साथ मामा से पूछता है, बताओ विवाह क्यों होता है ? उसमें व्यावहारिक अनुभव के क्षेत्र विस्तार की क्रमिक स्थितियां बहुत मर्मस्पर्शी हैं।” (28)

अंत में दोनों माता-पिता के आशीर्वाद से परिणय-सूत्र में बंध जाते हैं। वस्तुतः उपन्यास का यह प्रसंग हमें दलित-नारी-विमर्श के विषय में सोचने पर बाध्य कर देता है और उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि नारी और दलित अपने-आप को सक्षम और समर्थ बना लें तो इससे सामाजिक समस्या का बहुत कुछ हद तक समाधान मिल सकता है। द्विवेदी जी ने विवाह पूर्व संतान को सामाजिक बुराई के रूप में देखा है। उपन्यास का हरफन मौला पात्र मामा जो कि दूसरों के लिए जीता है। वह रैक्व से कहता है- “विवाह से जो बच्चे पैदा होते हैं वे धर्मसंगत होते हैं, उनसे समाज को बल मिलता है। और जो बच्चे बिना विवाह के उत्पन्न होते हैं वे वर्णसंकर होते हैं और अधार्मिक होते हैं।” (105) वर्तमान परिवेश में विवाह संबंधी परंपरागत मान्यताओं के बंधन ढीले हो रहे हैं और समाज एक

भगवान ने भी मनुष्य बनकर अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। मनुष्य की जो प्रयत्न करने वाली शक्ति है वागदेवता उसी के प्रतीक हैं।” ऐसे साहित्य साधक द्विवेदी जी के दर्शन करने का सुयोग दो तीन बार उपलब्ध हुआ।

सन् साठ के दशक में चंडीगढ़ में पंजाब युनिवर्सिटी का कन्वोकेशन था। अन्य गणमान्य अतिथियों के अतिरिक्त वहाँ के तत्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष के रूप में आचार्य द्विवेदी जी भी मंच पर आसीन थे। हिन्दी का प्रारम्भिक विद्यार्थी उनके ललित निबन्ध (विशेषकर ‘कुट्ज’) और साहित्य के आदिकाल पर उनके विचार और उनकी मान्यताएँ पढ़कर सर्वप्रथम उनसे परिचित होता आया है। मैं भी उसी श्रेणी में थी। दूर से ही सही लेकिन दर्शन हुए तो अच्छा लगा। बोलने खड़े हुए तो और भी सुखद अनुभव हुआ। उम्मत ललाट, काले फ्रेम का चश्मा, क्लीनशेव, घनी मूँछें खादी का कुरता धोती, दोनों कंधों पर तहाई हुई शॉल और एक हल्की सी मुस्कराहट संपूर्ण चेहरे पर व्याप्त थी और उस मुस्कराहट के कारण ऊपर के तीन चार ढाँत भी दिख रहे थे। मैंने अपने आस-पास बैठी लड़कियों से कहा कि वो देखो सामने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी बैठे हैं। “कौन! वही ‘कुट्ज’ वाले” ‘हाँ।’ दूसरी बार उनके एक परिचित के माध्यम से यह सुअवसर उपलब्ध हुआ। साहित्य और शिक्षा के गढ़ इलाहाबाद में बसना हुआ तो इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में शोध छात्रा के रूप में प्रवेश मिल गया था और मैं एक ऐसे विषय पर रिसर्च करना चाह रही थी जो भारतीय इतिहास से संबद्ध हो। कुछ विषयों पर बात-चीत के उपरान्त तत्कालीन विभागाध्यक्ष प्रो० रामकुमार वर्मा (मेरे निर्देशक) ने विषय दिया- ‘खड़ी-बोली काव्य ऐतिहासिक संदर्भ और मूल्यांकन’ शोध सामग्री एकत्र करने का कार्य मैंने शुरू कर दिया था लेकिन आचार्य द्विवेदी जी से अपने विषय पर मैं कुछ सुझाव लेना चाहती थी। चंडीगढ़ से वे बनारस आए हुए थे। पति डॉ० हरिमोहन (प्रो० फिजिक्स डिपार्टमेंट, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के साथ बनारस जाकर उन परिचित के माध्यम से हम उनसे मिले।

ग्यारह साढ़े ग्यारह का समय था। एक बड़े से कमरे के बीचों बीच खिड़की के पास गढ़ेदार तख्त पर बैठे हुए वे कुछ पढ़ रहे थे दरवाजा खुला हुआ था हम लोगों ने चौखट के भीतर कदम रखा ही था कि वे तख्त से उठते हुए बोले- “आइए आप लोग इलाहाबाद से आए हैं। तिवारी ने जिक्र किया था। बुरा न मानें तो जूते चप्पल बाहर ही... और वाक्य पूरा होने से पहले ही हमने जूते चप्पल चौखट से बाहर निकाल दिए। बोले बहुत से लोग मिलने आते हैं। न कहूँ तो हम लोग कहाँ बैठेंगे ? और कहने के साथ ही उन्होंने एक ठहाका लगाया। हँसे तो हम भी लेकिन कुछ संकोच भी हुआ। मुझे लगा कि हमें यह कहने का मौका ही नहीं देना चाहिए था। खैर हम दोनों ने उनके चरण स्पर्श किए और कुछ ही मिनटों में सब सहज हो गया।

मैंने अपने शोध विषय की चर्चा करते हुए सविनय कहा कि इस विषय पर मैं आपसे कुछ दिशा निर्देश लेना चाहती हूँ आशा है निराश नहीं करेंगे। उन्होंने निर्देशक का नाम पूछा। क्षण भर सोचा। फिर बोले, “देखो, इतिहास पोथियों में बंद निर्जीव दस्तावेज

नहीं है। एक जीवंत अनुभव है और इसके बहुत से पहलू हो सकते हैं। मैं इस विषय पर काम कराता तो शायद कुछ भिन्न रूप देता लेकिन तुम्हारा यह विषय मेरे गुरु भाई का दिया हुआ है तो जैसा वो कहें वैसा ही करो, विषय अच्छा है।”

भारतीय इतिहास की रग-रग से परिचित आचार्य न जाने कितना कुछ कह सकते थे लेकिन उन्होंने कोई टीका टिप्पणी नहीं की। भीतर से चाय आई। इस बीच इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, साहित्य और विज्ञान पर मेरे पति से उन्होंने बहुत से बातें की। घंटा भर होने को आ रहा था। चरण खूकर हाथ जोड़कर हमने विदा ली। द्विवेदी जी से आमने-सामने बैठकर इतनी बातें कर लेना ही अपने में एक सुखद और कल्पनातीत अनुभव था। लेकिन मेरे लिए यह एक रहस्य ही बना रहा कि उनकी दृष्टि क्या होती ? और एक अफसोस भी कि मैं उस दृष्टि से लाभान्वित न हो सकी।

प्रबंधमंत्री
भारतीय हिन्दू परिषद्, प्रयाग